॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

श्रीहरिदास निवास पत्रिका

अङ्क ४

प्रकाशन तिथि :— चैत्र शुक्ल पक्ष, श्रीरामनवमी, संवत् २०६९, १ अप्रैल २०१२
श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन- २८११२१, मथुरा, उ०प्र०।

सम्पादक : श्री हरिदास शास्त्री
संस्थापक एवं अध्यक्ष :
श्रीहरिदास शास्त्री गो सेवा संस्थान
श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन।

सम्पर्क सूत्र :—
09690751111, 08958379762 श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन
09313103109 नोएडा
09350261671, 09350110116, 09810098122, 09810876667 दिल्ली
Website: www.sriharidasniwas.org
E-mail: patrika@sriharidasniwas.org
info@sriharidasniwas.org

मुद्रक: श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस
श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्॥

उत्तमाभक्ति का वैशिष्ट्य — भाग- २

श्रीहरिदास शास्त्री (न्यायाचार्य्य)

२— <u>शुभदा</u>—

पिछले अङ्क में उत्तमाभक्ति के साधनभक्ति नामक प्रथम सोपान के प्रथम वैशिष्ट्य क्लेशहरत्व का थोड़ा विस्तार से वर्णन किया गया। अब इसके आगे के अन्य वैशिष्ट्य शुभदा अर्थात् भक्ति समस्त शुभों को प्रदान करती है, आदि का वर्णन करते हैं। सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि वास्तव में शुभ है क्या? श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१/१/२७) में इस सम्बन्ध में कहा गया है—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता ।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः॥

"मनीषीगण शुभ शब्द से भक्त के द्वारा समस्त जगत् की प्रियता का विधान करना, समस्त जगत का भक्त के प्रति अनुरक्त होना, समस्त सद्गुण समूह, सुख आदि (आदि शब्द से सर्व वशीकारित्व, मङ्गलकारित्व प्रभृति को जानना होगा) को कहते हैं।"

भक्तगण के द्वारा समस्त जगत् की प्रियता का विधान करना तथा समस्त जगत का भक्त के प्रति अनुरक्त होना— ये दोनों साद्गुण्य में अन्तर्भुक्त होने पर भी इनको पृथक् रूप से कहने का कारण यह है कि ये दोनों गुण सर्वोत्तम हैं; किं वा ये दोनों यद्यपि सद्गुणों में अन्तर्भुक्त हैं तथापि भक्त में ही ये सम्भव होते हैं; अन्यत्र ये सद्गुण देखने में नहीं आते हैं। श्रीमद्भागवत के ध्रुव चरित्र (४-९-४७) में उक्त है—

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्॥

"जिस प्रकार जल स्वयं ही नीचे की ओर बहने लगता है, उसी प्रकार मैत्री आदि गुणों के कारण जिस पर श्रीभगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, उसके आगे सभी जीव नतमस्तक हो जाते हैं।"

पद्मपुराण में भी कहा गया है—

येनार्च्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि ।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥

"जिस व्यक्ति ने श्रीहरि की अर्चना की है, उसने जगत्वासी सबको सुखी कर लिया है। और समस्त स्थावर जङ्गम प्राणी भी उसमें अनुरक्त होते हैं।"

तीसरा शुभ है— **सद्गुणादि प्रदत्व**। भक्ति निखिल सद्गुणादि को प्रदान करती है। इसका उदाहरण भागवत (५-१८-१२) में इस प्रकार है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा, मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

"जिस व्यक्ति की भगवान् में अकिञ्चना भक्ति है, उसके हृदय में देवतागण ('सुरा' भगवान् प्रभृति हैं। इससे भगवान् तथा उनके परिकर देवता, मुनिगण आदि को जानना होगा।) समस्त सद्गुणों के साथ सदा

निवास करते हैं; किन्तु जो भगवान् का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषों के वे गुण भला कहाँ से आ सकते हैं? वह तो तरह-तरह के सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है।"

सद्गुण शब्द से ज्ञान वैराग्य, यम, नियम आदि को जानना होगा।

चतुर्थ शुभ है— **सुखप्रदत्व**। सुख तीन प्रकार के होते हैं— विषयमय, ब्राह्ममय एवं ईश्वर सम्बन्धी। भक्ति के सुखप्रदत्व के सम्बन्ध में तन्त्र में कहा गया है—

सिद्धयः परमाश्चर्य्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यञ्च परमानन्दो भवेद्गोविन्दभक्तितः ॥

"गोविन्द की भक्ति से परम आश्चर्यजनक सिद्धियाँ, भुक्ति, शाश्वत मुक्ति और नित्य परमानन्द प्राप्त होता है।"

उपरोक्त श्लोक में सिद्धयः का अभिप्राय अणिमादि सिद्धियों से है। भुक्ति का अभिप्राय विषयमय सुख से है। अणिमादि सिद्धियाँ भी विषयमय सुख हैं। मुक्तिः ब्रह्मसुख है। एवं पारिशेष्य न्याय से शेष परमानन्दम् ईश्वरीय सुख है। इन सुखों का अनुभव भी श्रीगोविन्ददेव की निष्काम भक्ति से होता है।

इसी प्रकार श्रीहरिभक्ति सुधोदय में भी कहा गया है—

भूयोऽपि याचे देवेश! त्वयि भक्तिर्दृढाऽस्तु मे।
या मोक्षान्तचतुर्वर्गफलदा सुखदा लता॥ इति

"हे देवेश! मैं आपसे बारम्बार यही याचना करता हूँ कि आपमें मेरी दृढ़ भक्ति हो। यह भक्ति लतारूपा है, जो मोक्षान्त (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) चतुर्विध फल देने वाली एवं सुख को प्रदान करने वाली है।" यहाँ सुखदा शब्द का अभिप्राय ईश्वरीय सुख से है।

३— <u>मोक्षलघुताकृत्</u>—

उत्तमाभक्ति का तीसरा वैशिष्ट्य यह है कि वह मोक्ष को भी अति लघु रूप में अनुभव कराने वाली है। उत्तमाभक्ति जब साधन भक्ति के स्तर से आगे बढ़कर भाव भक्ति के स्तर में प्रवेश करती है तब यह अनुभाव प्रकाशित होता है। कहा गया है—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥

"हृदय में (मन में) थोड़ी सी भी भगवद्रति के विकसित अर्थात् उदय होने पर चारों पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पूरी तरह से तृण के समान हो जाते हैं।"

इसी प्रकार श्रीनारद पञ्चरात्र में उक्त है—

''हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्त्यश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥''

"मुक्ति आदि सभी सिद्धियाँ, अद्भुत-अद्भुत विषय भोग आदि भी हरिभक्तिरूपा महादेवी के पीछे-पीछे दासी की भाँति चलती रहती हैं।"

४— <u>सुदुर्लभा</u>—

उत्तमाभक्ति का चौथा वैशिष्ट्य यह है कि वह सुदुर्लभा है। हरिभक्ति दो प्रकार से सुदुर्लभा है—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात्सुदुर्लभा॥

"१- अनासङ्ग अर्थात् आसक्ति रहित (रुचि रहित) होकर बहु साधन करते रहने से बहुत काल तक भी हरिभक्ति नहीं मिलती है, तथा २- आसक्ति के साथ साधन समूह करते रहने पर भी श्रीहरि भक्ति को शीघ्र नहीं देते हैं।"

अनासङ्ग अर्थात् श्रद्धादि (श्रद्धा, साधु सङ्ग, भजन क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्ति) भक्ति की भूमिका के अन्तर्गत आसक्ति रहित साधन समूह के द्वारा भाव भक्ति सर्वथा अलभ्य है। आसक्ति के बाद ही रति उत्पन्न होती है, ऐसा शास्त्रों में वर्णित है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/३/८ में उक्त है—

साधनेऽभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम्।
हरावासक्तिमुत्पाद्य तत्र सञ्जनयेद्रतिम्॥

"साधन में अभिनिवेश अर्थात् निष्ठा पहले भक्ति में रुचि उत्पादन करता है, फिर श्रीहरि में आसक्ति उत्पन्न करके रति अर्थात् भाव भक्ति का उदय करता है।"

आसक्ति से युक्त साधन करने पर भी हरि सत्त्वर भाव भक्ति नहीं देते हैं, विलम्ब से देते हैं, इस प्रकार जानना होगा।

उसमें से प्रथम प्रकार की सुदुर्लभता तन्त्र में इस प्रकार वर्णित है—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्त्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्ल्लभा॥

"ज्ञान से मुक्ति सुलभ है, यज्ञादि पुण्य से भुक्ति अर्थात् भोग सुलभ है, किन्तु सहस्त्रों साधनों से भी हरिभक्ति सुदुर्लभ है।"

द्वितीय प्रकार की सुदुर्लभता श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध (६/१८) में इस प्रकार वर्णित है—

राजन्! पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां,
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग! भजतां भगवान्मुकुन्दो,
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥

"राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डव लोगों के और यदुवंशियों के रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् और कुलपति थे, यहाँ तक कि वे कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। इसी प्रकार भगवान् दूसरे भक्तों के भी अनेकों कार्य कर सकते हैं, और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं; परन्तु मुक्ति से बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे कभी नहीं देते हैं अर्थात् सहज में नहीं देते हैं।"

पूर्वोक्त श्लोक में 'कभी नहीं देते हैं'— इस प्रकार कहने पर, 'कभी देते हैं' इस प्रकार समझना होगा। चित् और चन प्रत्यय असाकल्य अर्थ में होता है, अतएव 'कभी' कहा, किन्तु 'कभी भी' नहीं कहा गया है। इसलिए आसंग अथवा आसक्ति के साथ साक्षात् भक्ति योग का साधन करने पर भी फलभूत भक्तियोग में गाढ़ आसक्ति जब तक नहीं होती है तब तक भाव भक्ति नहीं देते हैं। अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण निज विषयक आसक्ति युक्त भक्त को भक्ति (भाव भक्ति) ही देते हैं।

उत्तमा भक्ति का प्रवेश द्वार

भगवत् प्रपन्न दास

(एम.ए.संस्कृत)

जिन लोगों ने शास्त्रीय श्रीगुरु के समीप श्रद्धा एवं सेवा सहित भक्ति शास्त्रों का विधिवत श्रवण, मननादि नहीं किया है वे प्रारम्भिक भक्तगण प्राय: करके संशयग्रस्त होते रहते हैं। उनकी समस्या यह होती है कि वे भक्ति के किस अङ्ग का आचरण करें, इसका ठीक-ठीक निर्णय वे नहीं कर पाते हैं।

शास्त्रों में भक्ति के अनन्त अंगों एवं उनके माहात्म्य का वर्णन हुआ है। समय-समय पर इनके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लोगों के द्वारा श्रवण करके अथवा स्वयं अध्ययन करके भक्त निश्चय नहीं कर पाता है कि वह किस अंग का पालन करे। जैसे— कभी तो वह सोचता है कि शास्त्र में कहा गया है कि कलियुग में एकमात्र हरिनाम ही सबकी गति हैं, तो क्या सब कुछ छोड़कर वह केवल हरिनाम ग्रहण करने में प्रवृत्त हो? कभी सोचता है कि जब कलियुग में एकमात्र हरिनाम ही सबकी गति हैं तो श्रीगुरुपादाश्रय, दीक्षा आदि की क्या आवश्यकता है? पुन: देखता है कि समस्त वृद्ध वैष्णवगण सत्परम्परा में दीक्षित हैं, तो उसे भी दीक्षित होना चाहिये। अच्छा, तो दीक्षित हाने के बाद केवल हरिनाम करे या श्रीगुरु की सेवा करे या फिर श्रीरूप गोस्वामिपाद विरचित श्रीउपदेशामृत के वचन को प्रमाण मानकर एकनिष्ठ होकर गोवर्द्धन पर्वत स्थित श्रीराधाकुण्ड का आश्रय ले? पुन: सोचता है कि यदि श्रीराधाकुण्ड का आश्रय लेता है तो श्रीवृन्दावन में निवास करने वाले श्रीमद्गुरुदेव की सेवा सम्भव नहीं होगी, इससे अपराध होगा। श्रीगौतमीय तन्त्र के अनुसार गौओं की सेवा तो श्रीगोपाल के उपासकों के लिए परमाभीष्टप्रद है, तो क्या मैं तन-मन-धन से इसी में लग जाऊँ? इस प्रकार से हम देखते हैं कि उपरोक्त भक्त भक्ति के अंगों के आचरण के सम्बन्ध में संशयग्रस्त, अनिश्चय की स्थिति वाला होता है। यहाँ पर अब उपरोक्त समस्या के समाधान के सम्बन्ध में गौड़ीय सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जा रहा है।

जिस प्रकार से मर्यादा का पालन करके जगत को मर्यादित आचरण करने की शिक्षा देने के कारण भगवान् श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं, उसी प्रकार समस्त शिक्षाओं में सर्वश्रेष्ठ शिक्षा उत्तमाभक्ति का आचरण करके जगत् को उत्तमाभक्ति की शिक्षा प्रदान करने के कारण श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु को भक्ति का शिक्षक कहते हैं। भक्ति का शिक्षक होने के कारण श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने हर स्तर के भक्तों के हित के लिये श्रीलरूपगोस्वामि प्रभृति स्वपार्षदों के द्वारा नाना शास्त्रों का विचार पूर्वक भक्तिसिद्धान्त प्रतिपादक अनेकों ग्रन्थों की रचना करवायी। इन्हीं में से एक ग्रन्थ है— श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु। इसके रचयिता हैं— श्रील रूपगोस्वामि प्रभुपाद।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं निगूढ़ समस्त सिद्धान्तों का बड़ी ही कुशलता से प्रदर्शन हुआ है। इस ग्रन्थ के पूर्व विभाग की द्वितीय लहरी का नाम साधन भक्ति है। इस लहरी में ग्रन्थकार ने व्यासादि पूर्वाचार्यों द्वारा प्रकटित शास्त्रों में वर्णित भक्ति में से विशेष रूप से प्रसिद्ध चौसठ अंगों का वर्णन किया है। ये अंग श्रीगुरु पादाश्रय, श्रीगुरु के समीप श्रीकृष्णमन्त्रदीक्षा पूर्वक भागवतधर्म का अध्ययन, श्रीगुरु की श्रद्धापूर्वक सेवा, साधुपथ का अनुगमन,... ... ...श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन, श्रीमद्भागवत का श्रवण,

भगवान् के धाम में वास, श्रीविग्रह की सेवा प्रभृति हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने लिखा है—

अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः।
त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम्॥

"इस उत्तमा भक्ति मार्ग में प्रवेश के लिए ये बीस अङ्ग द्वार स्वरूप होने पर भी किन्तु श्री गुरु पादाश्रयादि तीन प्रधान अङ्ग हैं।"

अभिप्राय यह है कि चौसठ अङ्गों में जो प्रथम बीस अङ्ग वर्णित हैं वे उत्तमा भक्ति में प्रवेश के लिये द्वार स्वरूप हैं। किन्तु गुरुपादाश्रय, श्रीगुरु के समीप कृष्णदीक्षा पूर्वक भागवत धर्म का शिक्षण, एवं विश्वास पूर्वक श्रीगुरुदेवजी की सेवा ये तीन प्रथम अंग प्रधान रूप से आचरणीय हैं।

हम देखते हैं कि उपरोक्त तीनों प्रधान अङ्ग श्रीगुरुदेव से साक्षात् रूप में सम्बन्ध रखने वाले हैं। यहाँ सूचित हो रहा है कि भक्त को चाहिये कि वह किसी भी संशय में न पड़कर निज श्रीगुरु के आनुगत्य में उत्तमा भक्ति का आचरण करे। श्रीगुरु जो कुछ उपदेश करें उसी को वह साधन साध्य रूप में ग्रहण करे। इस प्रकार उसे श्रीगुरुदेव के प्रति निश्चयात्मिका बुद्धिवृत्ति युक्त अर्थात् एकनिष्ठ होना चाहिए। उपयुक्त समय पर भक्त की योग्यता के अनुसार श्रीगुरु भक्ति के अन्यान्य आवश्यक अंगों का भी उपदेश करते हैं; एकनिष्ठ भक्त इन उपदेशों का यथावत पालन करता है। इस एकनिष्ठता का प्रदर्शन श्रीमद्भगवद्गीता (२/४१) में निम्न प्रकार से हुआ है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

"हे कुरुनन्दन! भक्तिमार्ग में व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि केवल एक (एकनिष्ठ) होती है। किन्तु अव्यवसायी भक्तिबहिर्मुख लोगों की बुद्धि अनन्त और बहुशाखा युक्त होती है।"

इस श्लोक के ऊपर श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर कृत टीका का कुछ अंश इस प्रकार है— "अन्य सभी प्रकार की बुद्धियों की अपेक्षा भक्तियोगविषयिणी बुद्धि उत्कृष्ट होती है। इसी को व्यवसायात्मिका इत्यादि श्लोक के द्वारा कहे हैं। इस भक्तियोग में व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है। मेरे श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट भगवान् का कीर्त्तन, स्मरण, चरण परिचर्य्यादि (गोसेवा आदि) ही मेरा साधन है, यही मेरा साध्य है और यही मेरा जीवन है। मैं साधन और साध्य दोनों ही दशाओं में इसे त्याग करने में असमर्थ हूँ। यही मेरी कामना है, यही मेरा कार्य है। इसको छोड़कर स्वप्न में भी मेरा अन्य कुछ कार्य एवं अभिलाषा नहीं है। इससे सुख हो या दु:ख, संसार बन्धन का नाश हो अथवा न हो; उससे मेरी कोई हानि नहीं है। इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि निष्कपट (उत्तम, शुद्ध) भक्ति में ही सम्भव होती है।"

श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने भी श्रीप्रेमभक्ति चन्द्रिका में कहा है—

श्रीगुरुचरण पद्म, केवल भकति सद्म,
वन्दो मुञि सावधान मने ।

जाँहार प्रसादे भाई, ए भव तरिया जाई,
कृष्णप्राप्ति हय जाहा हने ॥
गुरु मुखपद्म वाक्य, हृदये करिया ऐक्य,
आर न करिह मने आशा ।
श्रीगुरुचरणे रति, एइ से उत्तम गति,
जे प्रसादे पुरे सर्व आशा ॥
चक्षुदान दिला जेई, जन्मे जन्मे प्रभु सेई,
दिव्यज्ञान हृदे प्रकाशित ।
प्रेमभक्ति जाहा हैते, अविद्या विनाश जाते,
वेदे गाय जाँहार चरित ॥

श्रीस्तवामृतलहरी के श्रीगुर्व्वाष्टकम् में भी लिखा हुआ है—

साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रै,-
रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥
यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो,
यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यं,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

"समस्त शास्त्रों में श्रीगुरुदेव को साक्षात् श्रीहरि का स्वरूप कहा गया है तथा सज्जनों के द्वारा उसी प्रकार भावना भी की जाती है; किन्तु प्रभु के जो अतिशय प्रिय हैं मैं उन्हीं श्रीगुरुदेव के श्रीचरणारविन्द की वन्दना करता हूँ।

जिनके प्रसाद से भगवान् का प्रसाद प्राप्त होता है एवं जिनकी अप्रसन्नता से कहीं भी गति नहीं होती है उन श्रीगुरुदेव के यश का तीनों सन्ध्याओं में ध्यान एवं स्तुति करता हुआ मैं उनके श्रीचरणकमल की वन्दना करता हूँ।"

उपरोक्त विवरण से पता चलता है कि भक्त को उसका अपना सेवा कार्य समस्त अवस्थाओं में एकमात्र श्रीगुरु के आनुगत्य में ही करना चाहिये। किसी भी प्रकार से संशयग्रस्त न होकर श्रीगुरु जो कुछ वैदिक एवं लौकिक उपदेश करें अथवा आदेश दें उसी को हर सम्भव प्रयास करके पालन करना चाहिये। कुछ भी संशय होने पर उन्हीं की शरण लेनी चाहिये। इसी से सुन्दर रूप में सेवा कार्य सम्भव होकर समस्त अनर्थों का नाश होता है और भगवान् में ममत्व होता है। यही समस्त शास्त्रों का सार है।

देह– एक भगवत्सम्पत्ति

लीला दासी
(बी.एच.एम.एस. पुणे)

इस जगत में विपत्तियों के आने पर कुछ लोग सोचते हैं कि उनसे छुटकारा पाने का एक सरल उपाय है अपने देह को त्याग देना। परन्तु शरीर को नष्ट करने से 'मैं' अर्थात् आत्मा यथावत रह जाता है और प्रारब्ध के कारण दु:ख पुन: आता है। इसलिए शरीर त्यागना कोई बुद्धिमानी का कार्य नहीं है। विचार पूर्वक समझा जाये तो हम देखेंगे कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर का ही कार्य है। इस ब्रह्माण्ड के वही स्वामी हैं। अपना यह शरीर भी उन्हीं का रचा हुआ है। अत: इस पराये धन को नष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। हम लोगों को ईश्वर ने अपनी अनुकम्पा से एक अवसर दिया है कि इस शरीर का प्रयोग कर हम उनकी सेवा–कार्य में लगें एवं इस मानव जीवन को सफल बनाएं। परन्तु साधारण मानव प्राय: इन सब बातों से अवगत नहीं रहता है। हमें इसी ज्ञान को सिखाने के लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने एक विशेष अनुयायी श्रीसनातन गोस्वामीपाद के साथ एक लीला की थी। उसका विस्तृत विवरण श्रीचैतन्य चरितामृत के अन्त्यलीला, अनुच्छेद ४ में मिलता है। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्रीसनातन गोस्वामी एकदा मथुरा से पुरी आए थे, जहाँ उस समय महाप्रभु का वास था। दीर्घ पथ की यात्रा उन्होंने झारखंड के वन–प्रदेश में से होकर अकेले ही पैदल किया। उन दिनों वे अपने भोजन की उपेक्षा कर प्राय: उपवास करके ही रह जाते थे। झारखंड के जल का उन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इन सब के फलस्वरूप उनके सारे शरीर में कंडु–रोग हो गया। खुजाने पर त्वचा से रक्त गिरता था।

गोस्वामीपाद यद्यपि उच्चकुल में जन्म ग्रहण किये थे, तथापि यवण शासक के संग के प्रभाव से उनकी जीवन–पद्धति भी यवनों जैसी हो गयी थी। इसलिए वे अपने आप को नीच मानते थे। इस कारण से वे नीलाँचल में जगन्नाथजी के मन्दिर में प्रवेश भी नहीं करते थे।

शारीरिक रोग के कारण व अपने आप को नीच मानने के कारण उन्हें अत्यधिक मानसिक क्लेश हुआ। तब उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि उनका शरीर किसी अच्छे कार्य के योग्य नहीं है। अत: किसी उत्तम स्थान में देह त्याग देना ही उचित रहेगा। उससे उनका क्लेश भी समाप्त होगा व सद्गति भी प्राप्त होगी। उन्होंने निश्चय किया कि वे रथयात्रा के समय श्रीजगन्नाथजी का व श्रीमहाप्रभु के दर्शन करते हुए रथ के चक्र के नीचे अपना प्राण विसर्जित कर देंगे। उन्होंने सोचा कि ऐसा करना परम पुरुषार्थ होगा।

नीलाँचल पहुँच कर श्रीसनातन गोस्वामी श्रीहरिदास ठाकुर के यहाँ निवास करने लगे। वहाँ उनका महाप्रभु से भेंट हुआ एवं वहीं पर उनका सत्संग प्राप्त होता रहा।

एक दिन वार्तालाप करते हुए महाप्रभु ने अचानक कहा–

देहत्यागे कृष्ण ना पाइ पाइये भजने। कृष्णप्राप्तिर उपाय कोन नाहि भक्ति विने॥
देहत्यागादिक एइ तामसेर धर्म्म। तमो-रजो-धर्म्मे कृष्णेर ना पाइये मर्म्म ॥

भक्ति विना कृष्णे कभु नहे प्रेमोदय। प्रेम विना कृष्णप्राप्ति अन्य हैते नय ॥
देहत्यागादि तमोधर्म्म पातककारण। साधक ना पाय ताते कृष्णेर चरण ॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत ३/४/५५-५८)

अर्थात् " सनातन! देहत्याग से श्रीकृष्ण प्राप्त नहीं होते हैं। वे तो भजन द्वारा ही प्राप्त होते हैं। भक्ति के बिना उन्हें प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है। देहत्याग करना तो तामसिक लोगों का धर्म है। तामसिक व राजसिक धर्मों से श्रीकृष्ण का मर्म नहीं जाना जा सकता है। भक्ति के बिना श्रीकृष्ण-प्रेम उदित नहीं होता है। और प्रेम के बिना अन्य किसी भी प्रकार से उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता है। देहत्याग आदि तामसिक धर्म पाप के कारण हैं। साधक को उससे श्रीकृष्ण का चरण प्राप्त नहीं होता है।" उन्होंने तब गोस्वामीपाद को देहत्याग जैसी कुबुद्धि को छोड़कर श्रवण-कीर्तन के द्वारा अविलम्ब श्रीकृष्ण प्रेम धन को प्राप्त करने को प्रेरित किया।

इसके उपरान्त महाप्रभु ने गोस्वामीपाद को नीच होने व अपने आप को भक्तिमार्ग के अयोग्य समझने की मानसिकता पर प्रहार किया। उन्होंने कहा— " जो भजता है वही बड़ा है। जो भक्त नहीं है, वह दीन है, वह नगण्य है। कृष्ण-भजन में जाति, कुल आदि का विचार नहीं होता है।"

महाप्रभु के ऐसा बोलने पर गोस्वामीपाद ने उनके चरण पकड़ लिए एवं उनसे पूछने लगे कि उनके जीने से क्या लाभ होगा? इसके उत्तर में महाप्रभु ने कहा— "तुम्हारा देह मेरा अपना धन है। तुमने मुझे आत्म-समर्पण किया है। पराये द्रव्य का तुम क्यों विनाश करना चाहते हो? क्या तुम धर्म व अधर्म का विचार नहीं कर सकते हो? तुम्हारा शरीर मेरा प्रधान साधन है। इस शरीर से मैं बहुत से प्रयोजनों को सिद्ध करूँगा।" तत्पश्चात् महाप्रभु ने समझाया कि वे गोस्वामीपाद के माध्यम से किन कार्यों को करवाना चाहते थे। फिर उन्होंने कहा— "जिस शरीर के माध्यम से मैं इन कार्यों को करना चाहता हूँ, तुम उसी को त्यागना चाहते हो। मैं कैसे इसको सहन करूँ?"

उन्होंने और भी कहा—"दीक्षा के समय भक्त आत्म-समर्पण करता है। उसी समय श्रीकृष्ण उसे अपने समान कर देते हैं। उसका शरीर वे चिदानन्दमय कर देते हैं। उसी अप्राकृत शरीर से वह श्रीकृष्ण के चरणों को भजता है।"

इससे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि दीक्षा के समय यदि साधक वास्तव में समर्पित होता है, तो समर्पण के पश्चात् साधक का कुछ भी उसका अपना नहीं रह जाता है। अर्थात् वह अपने आप को किसी वस्तु का स्वामी नहीं मानता है। उसका मन व देह तक को वह श्रीगुरु को समर्पित कर देता है। श्री गुरु ही श्रीकृष्ण हैं। तब उसका प्रत्येक कार्य श्रीगुरु की इच्छा के अनुसार ही होता है, वह श्रीगुरु के कार्यों को साधित करने के लिए एक निमित्त बन जाता है। उसको तब हर्ष अथवा शोक विचलित नहीं करते हैं।

गोस्वमीपाद ने अपने विषाद को त्याग कर आगे चलकर ईश्वर की सेवा में व्रज-मण्डल में रहते हुए असाधारण एवं अद्भुत कार्य साधित किया। उन्होंने नाना शास्त्रों को देश के विभिन्न हिस्सों से मंगवाकर उनके आधार पर व्रज के लुप्त तीर्थों का उद्धार किया। वृन्दावन में उन्होंने श्रीकृष्ण की सेवा को प्रकाशित किया। उन्होंने श्रीबृहद्भागवतामृत, श्रीहरिभक्तिविलास आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की टीका की भी उन्होंने रचना की। आज भी गौड़ीय वैष्णव इतिहास में उनकी गणना एक आधार स्तम्भ के रूप में की जाती है।

गो— आध्यात्मिकता का एक आधार स्तम्भ

जगन्नाथ दास
(बी.टेक., आई.आई.टी. कानपुर)

आध्यात्मिकता व गो-सेवा में क्या सम्बन्ध है? इसको समझने के लिए पहले समझना होगा कि आध्यात्मिकता का वास्तविक अर्थ क्या है? शुद्ध आध्यात्मिकता उसी को कहते हैं जिसमें साधक ईश्वर की विशुद्ध सेवा करता है। सेवा को विशुद्ध तब कहा जाता है जब सेवक के मन में सेवा के अलावा अन्य किसी फल प्राप्ति की वृत्ति रहती नहीं है। उसके मन में बस एक ही बात रहती है— कैसे सेवा के द्वारा अपने इष्टदेव को तृप्त किया जाये। शुद्ध आध्यात्मिक मार्ग में इष्टदेव के सुख-दु:ख में साधक का सुख-दु:ख होता है।

जगत में इस प्रकार की मानसिकता अर्थात् शुद्ध आध्यात्मिकता का भाव अत्यन्त विरल है, क्योंकि प्राय: आध्यात्मिकता में लोग भोग की इच्छा अथवा मुक्ति की इच्छा को मिश्रित कर देते हैं। ऐसा करने से आध्यात्मिकता का स्वरूप विशुद्ध नहीं रह जाता है। जन-साधारण के मन में केवल अपने आप को तृप्त करने की इच्छा होती है। वह ईश्वर की तृप्ति के विषय में सोचता ही नहीं है। वह तो प्रथमत: स्वार्थी है। उसके कारण **दूसरे के उत्कर्ष को देखकर उसके मन में लोभ उत्पन्न** होता है। उस लोभ के अनुसार जब उसे वाञ्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती है, तब वह कलह करना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार साधारण मनुष्य में स्वार्थ, लालच व झगड़ालूपन की वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से रहती हैं। वह ईश्वर की तृप्ति से तृप्त कैसे होगा? उसकी तो मानसिक वृत्ति यह है कि वह दूसरे के सुख को देखकर सुखी नहीं होता है, बल्कि ईर्ष्या करता है। अत: नि:स्वार्थ सेवा के लिए उसको अपनी मानसिक वृत्ति में परिवर्तन लाना होगा। उसे पराये सुख से सुखी होना होगा, व पराये दु:ख से दु:खी होना होगा।

परन्तु यह कैसे सम्भव हो? जन्म-जन्मान्तर से विभिन्न योनियों में जन्म लेकर यह जीवात्मा तो स्वाभाविक रूप से स्वार्थी, लालची व झगड़ालू है। अनादिकाल से पुष्ट किये गये ये संस्कार कैसे परिवर्तित हों? इसके लिए ईश्वर ने अपनी अनुकम्पा से एक उपाय निकाल रखा है। उन्होंने मनुष्य को स्वार्थ त्यागकर परार्थ के मार्ग में प्रेरित करने के लिए एक आदर्श प्राणी का सृजन किया है। वह आदर्श प्राणी है— गो। इसकी विशेषता यह है कि यह पूर्ण रूप से निरपराधी व उपकारी है।

अब इन दो भावों— निरपराधिता व उपकारिता को समझते हैं। निरपराधी का अर्थ है कि वह कभी किसी का अहित नहीं करता है। इस भाव का दूसरा रूप है—पराये दु:ख से दु:खी होना। जब कोई दूसरे के दु:ख को अपना मान लेता है, तब वह किसी के अहित के लिए कुछ कर ही नहीं सकता। अर्थात् वह पूर्ण रूप से निरपराधी बन जाता है। उपकारी का अर्थ है कि वह सर्वदा दूसरों का हित करता है। इस भाव का ही दूसरा रूप है— पराये सुख से सुखी होना। जब कोई पराये सुख से सुखी होता है, तब वह परसुख के लिए कार्यरत रहता है। अर्थात् वह पूर्ण रूप से उपकारी बन जाता है।

गो में उपकारिता व निरपराधिता अपनी शुद्ध अवस्था में विराजित हैं। ईश्वर ने शास्त्रों में मनुष्य के

लिए गो-रक्षा, गो-सेवा, गो-पूजन इत्यादि का विधान किया है। ईश्वर चाहते हैं कि गो के सान्निध्य में रहकर उसके आदशोंर् को (निरपराधी व उपकारी होना) मनुष्य जाने-अनजाने में अपने आचरण में ग्रहण कर ले। पद्मपुराण में कथित है—

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावश्च सर्वगात्रेषु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

"मेरे आगे गो रहें, पीछे गो रहें, सम्पूर्ण शरीर गौओं से व्याप्त हो तथा मैं गौओं के मध्य में रहूँ।"

जो व्यक्ति निष्कपटभाव से गो-सेवा में निरत रहता है, वह पराये सुख से सुखी होता है व पराये दु:ख से दु:खी होता है। इस आचरण को जब मनुष्य अपने इष्टदेव व उनकी सृष्टि के प्रति करता है, तो उसी को कहते हैं ईश्वर की सेवा या शुद्ध आध्यात्मिकता। इसका विवरण पूर्व में दिया गया है। अत: हम देखते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए जिस मानसिक अवस्था का होना आवश्यक है, वह निष्कपट गो-सेवकों में स्वत: उदित होती है। यदि कोई स्वयं गो-सेवा प्रत्यक्ष रूप से न कर सके तो भी गो के प्रति सेवा-भाव रखकर गो-सेवा में अप्रत्यक्ष रूप से हाथ बँटाकर ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त कर सकता है। ऐसे लोगों में भी ईश्वर निरपराधी व उपकारी भावों को उदित कर देते हैं।

Absolute and Relative

Snehansu Mandal

(Ph.D., IIT Kanpur)

Absoluteness and relativity refer to two levels of reality. Absoluteness is a character of the absolute, non-material reality, whereas relativity is a character of the material (both physical and mental) reality or world. Absoluteness is like light and relativity is like shadow, darkness. Absoluteness is not literal light and relativity is not literal shadow or darkness. Absoluteness refers to that character which is independent of material space and material time. Material space and material time are what living entities observe through their external (eye, ear, skin, tongue and nose) and internal (mind, intelligence and ego) sense organs. Absoluteness cannot be grasped or observed through the material faculty mentioned above. These internal and external (material) sense organs act like a curtain which prevents the living entities from seeing the absolute reality or the truth. Absoluteness can only be grasped directly (aparoksha anubhuti), without the intervention

of the material sense organs, by a person (tattva-drasta) who is free from all material contaminations (four defects as discussed in the previous issues). Relativity embodies finiteness with a beginning as well as en end in both space and time. Finiteness is a character of material space and material time. Material space is indicated by the bulk (observable by the external senses) volume, occupied by any physical body, which begins at one coordinate of space and ends at another different coordinate of space. Material time is indicated by the flow of events which starts at one point of time and ends at another different point of time. Material space and material time are complex in their character and therefore, they always change without any reference, giving rise to haziness, confusion, obscurity, uncertainty, failure etc. Absoluteness is not finite. It neither has a beginning nor has an end. Absolute is both infinite (bibhu), as well as infinitesimal (anu). Absoluteness is free from any haziness, confusion, obscurity, uncertainty, failure etc. Absoluteness is clarity and therefore, is also flawless confidence and hundred percent certainty. There is no tinge of failure in absoluteness. It is all success. Absoluteness is made of simplicity and causelessness. It is fundamental. Absoluteness and relativity are exclusive to each other though relativity is dependent on absoluteness but, absoluteness stands independent of relativity. They never stay together. Truthfulness, honesty, convergence, conclusion, decision, precision, coherence, reversibility, peace, solution, order, unity in diversity are inseparable, internal features of absoluteness, whereas, separation, divergence, falsity, dishonesty, indecision, elaboration, irreversibility, unrest, disorder, contradiction are inseparable, internal features of relativity.

All residents of this physical world have access only to relativity and not to absoluteness. This happens because the residents of this world accept and thereby enjoy relativity. They simply love and embrace relativity. They do not like absoluteness and thus do not accept it. This they do both consciously and unconsciously. By consciously accepting, they develop the tendency (samskar). Once the tendency is developed, they follow it even unconsciously. This phonemenon is beginingless. But though this is beginningless, still, one can take the decision, once for all, of leaving materialism embodied with the character of relativity and embrace absolute reality permanently. With this decision, one becomes liberated and the curtain of relativity is withdrawn and the absolute reality dawns. This is possible with the help of a guru who is expert in revealed scripture and at the same time, is also a tttva-drasta (aparoksha-anubhuti-sampanna). By this process, one can attain absolute reality or peace.